

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३८ अंक-१७८, वर्ष-१६, जुलाई-२०१२

आसो सुद ४, शुक्रवार, दि.६-१०-१९७८, बहनश्री के
वचनमृत-२९८-२९९ पर प्रवचन, प्रवचन - १११

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्मांड उलट जाये तब भी स्वयं नहीं पलटता; विभाव के चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता। बाहर के प्रतिकूल संयोग से ज्ञायक परिणति नहीं बदलती; श्रद्धा में फेर नहीं पड़ता। पश्चात क्रमशः चारित्र बढता जाता है। २९८।

‘ज्ञानी जीव...’ यहाँ ज्ञानी शब्द सुनकर कोई कहेगा कि ज्ञानी भले ही ऐसे होंगे किन्तु धर्मी को तो ऐसा सब होता है। राग का कर्तृत्व और.. ज्ञानी शब्द मतलब धर्मी शब्द जानना। जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है, विभावभाव से भिन्न, जड़ से तो भिन्न (है) सो तो स्थूल बात है, परन्तु पर्याय में उत्पन्न विभावभावों से भी भिन्न अधिक-अलग भासित हुआ है। आहा..हा..! ऐसे जीव को यहाँ धर्मी कहो या ज्ञानी कहो। ऐसा नहीं कि, ज्ञानी मतलब बहुत ज्ञान जिनको हो उसकी बात है और धर्मी की बात कोई दूसरी है। ऐसा नहीं है। समझ में आया?

ज्ञानी शब्द क्यों इस्तेमाल किया है? क्योंकि ज्ञानस्वरूप प्रभु का जिन्हें ज्ञान हुआ है इसलिये ज्ञानी कहा। अतः धर्मी का ज्ञान हुआ है सो धर्मी। धर्मी जो चीज है, उसका जो ज्ञान और धर्मदशा हुई, सो धर्म। वह जीव का कार्य है। बड़ी-बड़ी पाँच-पाँच, दस-दस हजार की सभा हो और उस बीच यह बात करनी पड़े लेकिन, भाई! इन्हें तो सुननेवाले बहुत कम हो, वीरल जीव कोई हो वे ही सुनते हैं। आहा..हा..! ‘वीरला जाणे तत्त्वने, वीरला जाणे कोई’ आहा..हा..! वीरल जीव श्रद्धा करे और वीरल ने श्रद्धा को देखा, आहा..हा..! ‘वीरला सुणे कोई’ ऐसा कहा है। एकदम रूखी बात (करनेवाले), उसे वीतराग स्वभाव से भरा हुआ भाव, अनादि से राग के रस के रसीक हैं उन्हें आत्मा के रस की बात कठिन लगे वस्तु तो ऐसी है, भाई! अशुभभाव छोड़कर शुभभाव में आया, वहाँ भी जिसको राग का रस है, वह भी – मिथ्यादृष्टि दुःख के पंथ पर, संसार परिभ्रमण के पथ पर है, प्रभु! आहा..हा..!

मुमुक्षु :- अज्ञानी को तो अशुभ के बाद ही शुभ आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह शुभ आता है, परन्तु वह शुभ भी संसार है, विकार है। आहा..हा..!



उसने स्वभाव को नहीं देखा इसलिये विभाव को मेरा कर्तव्य है ऐसा मानकर वहाँ संतुष्ट होकर अटक गया है। भगवान यह ज्ञायक स्वरूप चैतन्य, उसकी ओर नजर भी नहीं करता। अव्यक्तरूप से यह चीज क्या है? जिसकी पर्याय को भीतर में जाने पर महान... महान... महान... गंभीर लगे। आहा..! यह क्या चीज है? क्या चीज है? आहा..हा..! यह पढा तो होगा, भाई! यह पढा है न? 'नाईरोबी' से आये हैं। बहुत प्रेम रखते हैं, बहुत पैसेवाले हैं। साठ-सत्तर लाख। धूल, धूल। ये करोड़पति बैठे देखो! ये करोड़पति। पति जड़ के? आहा..हा..! भाई यह जड़ का पति तू नहीं, परन्तु विभाव का पति भी तू नहीं, प्रभु! आहा..हा..! एकतरफ से धर्मी को शुभभाव का परिणमन होने पर उन्हें कर्ता और भोक्ता हैं ऐसा भी कहा जाता है। परन्तु स्वभाव की दृष्टि से देखने पर... आहा..हा..! कहते हैं कि, वह कार्य उनके नहीं है ऐसा जानना। ऐसा। दो धारी तलवार। आहा..हा..!

भाई! अनन्त काल हो चूका, बापू! तेरे दुःख इतने भोगे, प्रभु! जिस दुःख को देखनेवाले की आँखों में आँसू की धारा छूट गई है। आहा..हा..! सो तो कहा नहीं था? (संवत्) १९७२-७३ की साल होगी। 'राणपर' से 'नागेश' जा रहे थे। दो गाव है। रास्ते में एक ऊँट पड़ा था ऊँट, ऊँट था। जवान ऊँट तार की जाली के पास पड़ा था। थोड़ा घास होगा। मुझे पता नहीं था कि, ऐसा ऊँट यहाँ पर क्यों गिर गया होगा? उसका पैर टूटा था। पैर यूँ होता है न? फिसल गया। वह चल तो सकता नहीं था। अब क्या होगा? कि, वहीं के वहीं पड़ा-पड़ा सूखकर मर जाएगा। आहा..हा..! उसवक्त कहा था। आहा..हा..! देखो तो सही यह जगत... आहा..हा..! जवान ऊँट, हं। छोटी उम्र का। दिखाव तो ऐसा ही था। पैर फिसल गया, खेल खत्म! चल सके नहीं

इसलिये काम भी कर सके नहीं फिर उसे रखेगा कौन? क्योंकि, जहाँ बैठा था वहाँ से हिल भी नहीं सकता था। आहा..हा..! तब कहा, यह थोड़ा घास डाला होगा उसे खाकर बाद में तड़प-तड़पकर मर जायेगा। फिर तो कोई घास भी डालेगा नहीं। कौन डाले जंगल में? वह तो अभी ताजा था तो थोड़ा पड़ा था। आहा..हा..! और जंगल में अकेला, रात में सर्प, बिच्छु चारों तरफ घूमते हो। आहा..हा..! खेल खत्म। वहीं का वहीं देह कृश होकर सुख गया। आहा..हा..! उसके दुःख को कैसे कहा जाये? इससे तो अनन्तगुणा ज्यादा दुःख नरक की दस हजार वर्ष की स्थिति में है, प्रभु! आहा..हा..! तुने अपने दुःखों को भी नहीं जाना, प्रभु! आहा..हा..!

ऐसे दुःखों से मुक्त होना हो और आनंद का, आनंद का नाथ भगवान जिसको प्राप्त करना हो... आहा..हा..! उसे तो स्वरूप जो कि शुद्ध चैतन्य है उसके अवलंबनपूर्वक परिणमन करना होगा। आहा..हा..! जितना कार्य पर का है और विभाव का कार्य भी तेरा नहीं है। आहा..हा..! इसप्रकार एकतरफ से कहते हैं कि विभाव का कर्ता जीव है समकित्ती भी। यह परिणमन की अपेक्षा से है। परिणमन करता है न वह। आहा..हा..! किसकी खुशी मनानी है? भाई! कौन से हर्ष के घूँट पीने हैं? नाथ! तू कहाँ है? आहा..हा..! यह चैतन्य भगवान आनंद का नाथ प्रभु! इसके अवलंबन द्वारा जो कार्य हो वह कार्य तेरा है, बाकी सब बेकार है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- वह सब संसार ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री :- भटकने के कार्य। शुभभाव भी संसार। वहाँ कहा न? जगपंथ। आहा..हा..! मुनि को भी। मिथ्यादृष्टि का शुभभाव तो जो कि उसे अपना मानता है सो तो मिथ्यात्व का महापाप संसार है, अनंत संसार है। आहा..हा..! जिसे शुभभाव मेरा है ऐसे अनन्त गुणों के स्वभाव

के साथ-साथ जिसने विभाव के मेल का एकत्व मान रखा है, सो तो मिथ्यात्व का अनन्त संसार है। आहा..हा..! इस मिथ्यात्व के गर्भ में नरक और निगोद के भव करने की ताकत है। आहा..हा..! उस मिथ्यात्वमें से नरक व निगोद का प्रसव होगा। आहा..हा..!

तुझे तेरा कार्य करना हो तो... आहा..हा..! भगवान चैतन्य ज्ञायक का रसकंद प्रभु, इसके सन्मुख अनुसरण करते हुए कार्य करना सो तेरा कार्य है और वही धर्म कार्य है। आहा..हा..! अब ये सब व्यापारादि करते हैं न और कहते हैं कि वह उसका कार्य नहीं। आहा..हा..! भाई! वह तेरा है नहीं। तेरा तत्त्व है सो पर के कार्य में जाये क्या? और ज्ञायकतत्त्व है वह विभाव के कार्य में जायेगा क्या? आहा..हा..! केवल स्वभाव का पिण्ड प्रभु! ज्ञानरस, आनंदरस, शांतरस, स्वच्छरस, प्रभुरस ऐसा पूर्ण आनंद का नाथ भगवान! वह राग के रस में कैसे जायेगा? आहा..हा..!

ऐसा बात लोगों को रूखी लगती है। क्या करे? भाई! आहा..हा..! अरे...! भाई तो कहते थे - 'दीपचंदजी' अभी हम देखते हैं तो आगम अनुसार श्रद्धा भी जगत के प्राणियों में, संप्रदाय में दिखती नहीं है। ऐसा कहते हैं दोसौ साल पहले। अगर प्रत्यक्ष बात करें तो कोई सुनने को राजी नहीं है। आपकी बात एकांत है (ऐसा कहते हैं)। इसलिये अब लिखकर जाता हूँ कि, मार्ग यह है इसके अलावा मार्ग यानी वस्तु नहीं है। अरे..! बात तो सही है। दोसौ वर्ष पहले। इससे भी अभी तो हलका काल है। आहा..हा..! ये तो पुण्य की राशि इकट्ठी हुई है न जरा आहा..! (इसलिए) सुनते हैं लोग। और लोगों को लगता भी है कि, बात कोई दूसरी है, ऐसा लोगों को लगता है। देखो न! दिगम्बर (मुनि), बीस साल की दीक्षा, शीघ्र कवि। ऐसे गाने बनाये शीघ्रता

से, हँ फिर भी... आहा..हा..! यह बात कोई अलग है, भाई! उसे नम्रता रखनी होगी। उन्हें बड़ा मान है कि, हम साधु हैं... आहा..हा..! यह अभिमान छोड़ना होगा, प्रभु! आहा..हा..! ये जड़ के और विभाव के कार्य पर के हैं, मेरे नहीं। मेरा तो चैतन्य का अनुसरण करके परिणमन होना ही मेरा कार्य है। आहा..हा..!

'ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है...' आहा..हा..! भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य, उसकी दृष्टि अंतर में हुई कि... आहा..हा..! **'कि सारा ब्रह्मांड उलट जाये...'** आहा..हा..! द्रव्य कभी बदलता है तो जो द्रव्य की प्रतीत और अनुभव हुआ वह कैसे बदले? भले ही पूरा ब्रह्माण्ड बदल जाये। आहा..! सारी दुनिया पुकारने लगे कि नहीं, यह झूठ है यह झूठ है। आहा..हा..! **'सारा ब्रह्माण्ड उलट जाये तब भी स्वयं नहीं पलटता;...'** सत् का अनुभव जहाँ हुआ, प्रतीत हुई, ज्ञान हुआ वह कैसे बदले? जगत चाहे कितनी भी इससे विरुद्ध बातें करे। आहा..हा..!

'विभाव के चाहे जितने उदय आये...' आहा..हा..! धर्मी शुभ-अशुभ भाव की अंदर आये फिर भी वह उलझन में नहीं आता। निःशंकरूप से मेरी चीज तो शुद्ध, पवित्र है। आहा..हा..! श्रीमद् ने कहा न ? 'श्रीमद्'ने आहा..हा..! व्यापार-धंधे में थे। ऐसा कहा। छब्बीस वें वर्ष में है। इतनी उपाधियाँ आ पड़ती हैं कि धड पर माथा नहीं रह सके। आहा..हा..! भाई! 'श्रीमद् राजचंद्र' जवाहरात का धंधा करते थे न? ऐसी उपाधि आती थी कि धड पर माथा रहना मुश्किल था। सिर घूम जाये आहा..हा..! राग ऐसा आये कि इसको छोड़ने पर ही छुटकारा होगा किन्तु छूटता नहीं था। आहा..हा..! समझ में आया? यहाँ है? पुस्तक नहीं है? है... है। २६ वें वर्ष है। आया। देखो!

(पत्रांक-४६५) 'गत वर्ष मगसिर सुदि

छठको यहाँ आना हुआ था तब से आज दिवसपर्यंत अनेक प्रकार के उपाधियोग का वेदन करना हुआ है।' देखो! आहा..हा..! 'और यदि भगवत्कृपा न हो...' यानी कि स्वरूप की 'तो इस कालमें वैसे उपाधियोग में घड उपर सिर का रहना कठिन हो जाये ऐसा होते होते अनेकबार देखा है। और जिसने आत्मस्वरूप जाना है ऐसे पुरुष का और इस संसार का मेल न खाये,...' दोनों का कहीं भी मेल नहीं खाता। आहा..हा..! 'ऐसा अधिक निश्चय हुआ है। ज्ञानीपुरुष भी अत्यंत निश्चयात्मक उपयोग से वर्तन करते करते भी क्वचित् मंद परिणामी हो जाये...' आहा..हा..! राग के शुभभाव में आकर मंद हो जाये, दृष्टि में नहीं होते। आहा..हा..! ऐसी इस संसार की रचना है। आहा..हा..!

'यद्यपि आत्मस्वरूप संबंधी बोध का नाश तो नहीं होता, तथापि आत्मस्वरूप के बोध के विशेष परिणाम के प्रति एक प्रकार का आवरण होनेरूप उपाधियोग होता है।' बहुत गहरी बात है। आहा..हा..! क्योंकि स्त्री-बच्चे, धंधा-व्यापार और इन सब के बीच ज्ञातारूप रहते थे। आहा..हा..! बहुत कठिन! अपूर्व है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, 'विभाव के चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता।' कठिन प्रकार का कोई विषय वासना का भाव भी आ जाये... आहा..हा..! फिर भी स्वरूप से चलित नहीं होते। आहा..हा..! जिसने ज्ञाता को जाना है उसका ज्ञातामें से खिसकना नहीं होता। आहा..हा..! 'श्रेणिकराजा' ले लीजिये। आहा..हा..! क्षायिक समकित्ती। समय, समय पर तीर्थकर गोत्र का बंध करते हैं। जेल में डाला उसके बेटे ने। आहा..! उसे जब पता चलता है कि, मेरे पिताजी ने तो मेरे बचपन में मेरी सेवा की थी। मेरी

माँ ने तो मुझे मार ही डाला था। मुरगेने चोंच भरकर, उसने चूसा था। इतनी देखभाल की थी। अरे..रे..! मैंने यह क्या किया? आहा..हा..!

मुमुक्षु :- बेटा बाप को हवालात में डाले?

पूज्य गुरुदेवश्री :- डाल दिया था न! कैद कर लिया था। क्योंकि उनकी उपस्थिति में खुद को राज्य चलाने का मौका नहीं मिल रहा था। और वह कब मरे उसका कोई ठिकाना नहीं था। इतने इतने साल से यह राज्य चला रहे हैं अब हम इनके राजकुमारों के हाथ सत्ता कब मिलेगी कहना मुश्किल था।

मुमुक्षु :- बेटा बाप को हवालात में डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री :- डाल दिया था न! कैद कर लिया था। क्योंकि उनकी उपस्थिति में खुद को राज्य चलाने का मौका नहीं मिल रहा था। और वह कब मरे उसका कोई ठिकाना नहीं था। इतने-इतने साल से यह राज्य चला रहे हैं अब हम राजकुमारों के हाथ सत्ता कब मिलेगी कहना मुश्किल था।

मुमुक्षु :- इसका मतलब कैद थोड़ी कर लेते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री :- हवालात में डाला। वह भी कैसे डाला? ताला बंद करके। आहा..हा..! जो तीर्थकर के जीव। आहा..हा..! वहाँ से निकलकर आगे तीर्थकर होनेवाले हैं। वहाँ से निकलकर सीधे ही तीर्थकर होनेवाले हैं। आहा..हा..! ये दगाखोर बच्चों ने हवालात में डाल दिया और जैसे ही छोड़ने आया क्योंकि बंद किया था। छोड़ दो। इनको हो गया भ्रम, समकित्ती थे फिर भी उन्हें ऐसा भ्रम हुआ कि यह मारने आ रहा है। आहा..हा..! उनको देहत्याग करने का भाव आ गया। फिर भी स्वभावमें से वह विरुद्धता नहीं हुई उन्हें। स्वभाव की दृष्टि में उन्हें बिलकुल भी दोष नहीं है। आहा..हा..! वे तो राजा थे, हीरे थे ऊँचे-ऊँचे। हीरे सहित चूस लिया। देह छूट

गया। लड़के ने आकर देखा कि अरर..! अरेरे! मैं तो छोड़ने आया था और यह क्या हुआ? रुदन... रुदन... रुदन... अपनी माँ के पास गया। माता! मैंने बहुत बड़ी भूल की। भाई! आहा..हा..! अब तो कारागृह में मुरदा पड़ा है। बड़ा राजा, जिसको अन्य हजारों राजा चामर देते हो। उसकी देह छूटी कारावास में, भाई! आहा..हा..!

जन्म हुआ किसीने जाना नहीं और मरते वक्त कोई रोनेवाला नहीं। आहा..हा..! 'श्रीकृष्ण' का जन्म हुआ, बाहर में किसी को पता नहीं चलने दिया। 'गोकुल' में ले गये। आहा..हा..! मरते वक्त कोसंबी वन में, आहा..हा..! 'तरसे तडफडे त्रिकमो' 'त्रिकमो' माने तीन खण्ड का धनी, तृषा लगी, आहा..हा..! जिनकी आठ-आठ हजार देव सेवा करते थे उसीकी प्यास बुझाने के लिये पानी देनेवाला न था। बलदेव पानी लेने जाते हैं। बरतन कोई पास में नहीं था, कुछ नहीं था। बरगद के बड़े-बड़े पत्तों में तिनके लगाकर पात्र बनाया, जैसे पानी लेकर पहुँचे कि देह छूट गई। आहा..हा..! जरदकुमार का बाण लगता है, भगवान ने कहा था कि, यह श्रीकृष्ण की मौत जरदकुमार के बाण से होगी। उसका भाई जो बारह-बारह वर्ष से वन में रहता था, परन्तु नेमिनाथ के वचन से कैसे अन्यथा हो? आहा..हा..! वह 'द्वारिका' नगरी, सोने के गढ़ और रत्नों की अलंकारिक शोभा। एक तरफ रानियाँ आहा। छोटी-छोटी उम्र की रानियाँ देखो तो अग्नि में जलती हुई दिखे आहा..हा..! उस वक्त थोड़ा विभावभाव खड़ा होता है किन्तु स्वरूप से विचलित नहीं होते। आहा..हा..! यह कैसी दशा!

ऐसे उदय आये तो भी 'चलित नहीं होता।' ज्ञानत्व का जो अनुभव व दृष्टि है वह विचलित नहीं होते। आहा..हा..! चाहे जितने विभावभाव आ जाये। आहा..हा..! मेरे स्वरूप से

तो विरुद्ध है। अतः वह विरुद्धभाव मेरी चीज नहीं है। ऐसी निःशंकता समकित्ता को छूटती नहीं है। आहा..हा..! ऐसी बातें। जबकि अज्ञानी को लड़के की मौत हो जाये तो भी रुदन न करे। 'चूड़ा' में थे। 'चूड़ा' में एक भाई थे। बहुत साल पहले की बात है। (संवत्) १९६९ की साल की बात है। 'चूड़ा' में एक भाई थे, डोक्टर थे। वैसे आदमी था वैरागी। दृष्टि मिथ्या-स्थानकवासी। जवान लड़का मर गया। मैं गया इसके पहले ही घटना बन चुकी थी। वह कहता था कि लड़का मर गया है। समाज में बोल दिया जो भी आये, रोएगा नहीं। उसके देह की स्थिति पूर्ण हुई है। जवान लड़का हूँ! रोने का नहीं है। सबकुछ अपने स्वकाल में होता है, फिर भी दृष्टि मिथ्यात्व की है। वह पता नहीं (संवत्) १९६९ की बात है। १९७० में दीक्षा ली थी। इसके पहले में वहाँ गया था। वहाँ है न! नीचे क्या कहते हैं, सब्जीबाजार में? वहाँ वे थे तब मैं आया था। १९६९ की बात है। १९७० पहले की बात है; ६५ साल पहले की बात है। आहा..हा..! ये भाई ऐसे हैं कि, जवान लड़के की मौत पर भी रोए नहीं। तो क्या वह धर्मी है? आहा..हा..! और ऐसी स्थिति में विभाव सहित रुदन भी आ जाये, तो भी सम्यग्दर्शन को बिलकुल दोष नहीं लगता। आहा..हा..! वह चारित्र का दोष है। दूसरे गुण का दोष अगर सम्यग्दर्शन को दूषित कर दे, जब तो कोई निर्दोष रह ही नहीं सकता। आहा..हा..!

'श्रीमद्' ने भी कहा है एकबार। 'हे काम! हे मान! ऐसा आता है न? तू हट जा, तू मेरा स्वरूप नहीं, तू मुझे परेशान मत कर। आहा..हा..! 'श्रीमद्' में पीछे के विभाग में कहीं आता है। भाई! पीछे के विभाग में। इसमें आता है। बहुत पहले से सब स्वाध्याय किया हुआ है। आहा..हा..! यहाँ कहते हैं। 'विभाव के चाहे जितने उदय आये तथापि चलित नहीं होता। बाहर

के प्रतिकूल संयोगों से...' देहादि की परिणति में रोग-रोग (हो जाये), शरीर आदि सड़ जाये ऐसे-ऐसे प्रतिकूल संयोग खड़े हो, आहा..हा..! तो भी 'ज्ञायक परिणति नहीं बदलती।' आहा..हा..! जाननेवाले का ज्ञान परिणमन है वह पलटता नहीं। आहा..हा..! निःशंक है, निर्भय है। आहा..हा..!

'श्रद्धा में फेर नहीं पड़ता।' अंदर में शुद्ध-स्वरूप चैतन्य को जानकर प्रतीत हुई है वह पलटती नहीं। आहा..हा..! 'पश्चात क्रमशः चारित्र बढ़ता जाता है।' भीतर में स्थिरता का अंश बढ़ते-बढ़ते चारित्र पूर्ण हो जाता है। यह २९८ (बोल पूरा हुआ)।

वस्तु स्वतःसिद्ध है। उसका स्वभाव उसके अनुकूल होता है, प्रतिकूल नहीं। स्वतःसिद्ध आत्मवस्तुका दर्शनज्ञानरूप स्वभाव उसे अनुकूल है, राग-द्वेषरूप विभाव प्रतिकूल है। २९९।

२९९. 'वस्तु स्वतःसिद्ध है।' भगवान् आत्मा स्वतः अपने से - अपने आप से है, इसका कोई कर्ता नहीं है, किसीने बनाया नहीं, वह स्वतःसिद्ध सत् है प्रभु! आहा..हा..! 'वस्तु स्वतःसिद्ध है। उसका स्वभाव उसके अनुकूल होता है...' क्या कहते हैं? वस्तु स्वतः सिद्ध है, उसका अंतर स्वभाव अनुकूल हो आनंद, शांति, वीतरागता इत्यादि का स्वभाव अनुकूल हो। वस्तु है सो स्वतः सिद्ध है, इसलिए उसका स्वभाव उसे अनुकूल है। विकार और दुःखरूप उसके स्वभाव भाव में नहीं है। आहा..हा..! 'वस्तु स्वतःसिद्ध है। उसका स्वभाव उसके अनुकूल होता है, प्रतिकूल नहीं।' स्वभाव से विरुद्ध जो विभाव वह इसका स्वभाव नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! 'स्वतःसिद्ध आत्मवस्तु का दर्शनज्ञानरूप स्वभाव...' आहा..हा..! भगवान् आत्मपदार्थ वस्तु, उसका स्वभाव देखना और जानना, उसके अनुकूल होता है। जानना-देखना स्वभाव को अनुकूल है। आहा..हा..! क्योंकि वस्तु का स्वभाव हमेशा वस्तु के अनुकूल होता है। द्रव्य का स्वभाव है वह द्रव्य के अनुकूल होता है। आहा..हा..! समझ में आया? ऐसा उपदेश! मार्ग ऐसा (है), बापू!

कहते हैं, भाई! यह वस्तु है न? यह वस्तु का स्वभाव है वह इसके अनुकूल होता है, विपरीत नहीं होता। उसका ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि

स्वभाव वह उसके अनुकूल स्वभाव है। आहा..हा..! 'दर्शनज्ञानरूप स्वभाव उसे अनुकूल है, राग-द्वेषरूप विभाव प्रतिकूल है।' आहा..हा..! पर्याय में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प, चाहे तो व्यवहार रत्नत्रय का राग (हो), वह स्वभाव से प्रतिकूल है। जानना, देखना, आनंद जिसका स्वभाव, वह वस्तु के अनुकूल है और पुण्य-पाप के भाव वे वस्तु स्वभाव से वस्तु को प्रतिकूल हैं। आहा..हा..! क्या कहा?

जो स्वतः सिद्ध पदार्थ प्रभु! उसका जो जानना, देखना, आनंद वह उसके अनुकूल स्वभाव होता है, जिसमें पुण्य-पाप के विभाव हैं वे प्रतिकूल हैं, वे उसके स्वभाव में हो नहीं सकते। आहा..हा..! समझ में आया? ये शब्द थोड़े हैं परन्तु वस्तु वस्तु है, स्वतःसिद्ध है और उसका स्वभाव-स्वभाववान का स्वभाव, स्वभाववान के अनुकूल होता है। आहा..हा..! जानना, देखना, आनंदादि। और इसमें जो विभाव राग-द्वेष (होते हैं) वे प्रतिकूल हैं, वे विभाव प्रतिकूल हैं। अतः वे स्वभाव कि जाति के नहीं। द्रव्य के स्वभाव की जाति उसकी नहीं। स्वभाव हमेशा अनुकूल होता है, प्रतिकूल हो वह इसकी जाति नहीं। आहा..हा..! ऐसा जानकर विभाव से हटकर स्वभाव का अनुसरण करना उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। विशेष कहेंगे।



श्री परमागमसार वचनामृत-२६४ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,
प्रवचन नं.१२१ (दि.५-६-१९८३, भावनगर)

प्रश्न :- 'मैं जाननेवाला ही हूँ' यह भाव जोर नहीं पकड़ता, यह कैसे जोर पकड़े?
उत्तर :- तू स्वयं जोर नहीं लगाता इसीलिए जोर नहीं पकड़ता। बाहर के संसारप्रसंगोंमें कितना चाव और उत्साह होता है, ऐसे ही अपने अन्तर स्वभाव का चाव और उत्साह होना चाहिये। २६४

प्रश्न किया है। 'मैं जाननेवाला ही हूँ यह भाव जोर नहीं पकड़ता, यह कैसे जोर पकड़े?' यह प्रश्न इसप्रकार है कि, सामान्यरूप से ज्ञातादृष्टारूप रहनेवाले को ऐसा जोर रहता है। समझनेवाला, प्रश्नकार ऐसा समझा है कि मैं मात्र जाननेवाला हूँ ऐसा बल, ऐसे बलसहित जाननेवाला ही केवल हूँ ऐसे बलपूर्वक केवल ज्ञाता-दृष्टा रहना, ऐसे होना चाहिये, ऐसा करना चाहिये, ऐसा क्यों नहीं होता? समस्यारूप ये बात ली है।

उत्तर देते हैं कि, 'तू स्वयं जोर नहीं लगाता इसलिये जोर नहीं पकड़ता।' खुद जोर करे तो हो सकता है ऐसा कहना है। अन्य लाभ-नुकसान के प्रसंगों में जोर कहाँ से आता है? वही बात लेते हैं। 'बाहर के संसार प्रसंगों में कितना चाव और उत्साह होता है।' कहाँ से रस आता है? जहाँ खुद की रुचि का विषय हो या सुख का कारण है ऐसा दिखे वहाँ आपको रस आता है, उत्साह आता है, चाव आता है। वह कहाँ से आता है? कि, उस प्रसंग का मूल्यांकन, उसका मूल्य भासित हुआ है, कीमत आ गयी है वहाँ से जोर आता है। जाननेवाले आत्मा की कीमत तुम्हें आयी नहीं, इसलिये आपको रस नहीं आता है। इसलिये इसमें जोर नहीं

आता है।

जिसकी कीमत किसी उपमा से, किसी भी पदार्थ की, किसी की बराबर जिसके साथ हो नहीं सकती ऐसा अनुपम पदार्थ तू है, फिर भी तुझे इसकी कीमत नहीं है, ऐसी स्थिति में जोर आयेगा कहाँ से? इसमें जोर पकड़ेगा कहाँ से? क्यों स्वाध्याय के माध्यम से या सत्शास्त्र के माध्यम से स्वरूप की पहचान करने की बात प्रथम ली है? इसलिये क्योंकि पहचान से कीमत भासित होती हैं। कीमत अवभासित होनेपर ही उसमें रस की उत्पत्ति होती है, महिमा आती है, तब ही परिणाममें अपनी तरफ का झुकाव आता है, ढलन आता है। इसके अलावा अन्य कोई भी सहज उद्यम होने की वास्तविक परिस्थिति नहीं है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, 'मैं जाननेवाला ही हूँ' ऐसा तो मैंने जाना है। आत्मा ज्ञायक पदार्थ है, मैं केवल जाननेवाला तत्त्व हूँ ऐसा जाना है, लेकिन ऐसा जानते हुए भी वह जोर क्यों नहीं पकड़ता है? दूसरे प्रकार से इसी प्रश्न को स्पष्ट करे तो ऐसा है कि यह सब समझने पर भी कि आत्मा जाननेवाला है, फिर भी इसका पुरुषार्थ क्यों उत्पन्न नहीं होता? जोर नाम पुरुषार्थ। कि, जानने के बावजूद भी पुरुषार्थ क्यों नहीं

जोर पकड़ रहा है? ऐसा प्रश्न है। वास्तव में सहीरूप से जाना हो तो पुरुषार्थ जागृत न हो ऐसा बन नहीं सकता। वास्वत में आत्म पदार्थ जैसा है वैसा जानने में आये, स्वयं अपने को जाने और उसे अपना आत्मबल उत्पन्न न हो, ऐसा कभी नहीं बनता। तो फिर इसने जो जाना है इसमें क्या हुआ है? कि, उसने जो जाना है इसमें आत्मा विषयक कल्पना की है। 'आत्मा' नाम का कोई अन्य पदार्थ है, ऐसा जाना है। ठीक! आत्मा नामका कोई अन्य पदार्थ है, मूल में अपने आपको इसमें शामिल नहीं किया। कोई अन्य पदार्थ ऐसा है, ऐसे जाना है। इसलिये उसे इसमें कोई रस या जोर नहीं उत्पन्न होता है।

फिर भी यहाँ तर्क उठ सकता है कि, लेकिन हमें तो जानना ही नहीं है। हमें तो अपना स्वरूप जानना है। अपने स्वरूप को जानने के अभिप्राय से हम शास्त्र का अध्ययन करते हैं। ऐसा कहते हैं कि नहीं? अगर अपने स्वरूप को जानने के अभिप्राय सहित शास्त्रस्वाध्याय हो रहा हो तो स्वाध्याय के दौरान आप अपने आपको कहाँ-कहाँ शामिल करते हो? यह सवाल है। यानी कि, मुझे लागू पड़ता है जैसे शास्त्रवचन को अंगीकार करते हो या किसी अन्य प्रकार से लेते हो? इतना सवाल है। अगर आपने खुद को शामिल किया.. यह तत्त्वज्ञान का विषय आत्मा के भावों का है। भावात्मक विषय है। तत्त्वज्ञान में भावात्मक पहलू मुख्य होता है। पदार्थ होते हुए भी पदार्थ का जो भावात्मक पहलू है इसी की मुख्यरूप से चर्चा चलती है। तब अपने भावों का उसमें आप मिलान करते हो? मैं यह बात कैसे अंगीकार करूँ? जैसे खुद को अंदर शामिल करते हो? जब तो बात खुद को जैसे अंगीकार होगी। परन्तु केवल माहिती प्राप्त करने, केवल तर्कशुद्धि हेतु, केवल बुद्धि ग्राह्य करने, जैसे-वैसे विभिन्न प्रकार से मूल में खुद को शामिल करने के बजाय दूसरे-

दूसरे कोई न कोई प्रकार से जबतक सत्शास्त्रों का अध्ययन होता है या स्वाध्याय होता है तो भी वह निरर्थक जाता है। ऐसा विषय है। अतः जहाँ भी खुद को छोड़कर चले तो वंचनाबुद्धि में रह जाता है खुद। खुद अपने आप से धोखे में रह जाता है।

हेतु क्या है? कि हेतु तो अपने गुण-दोष को अच्छी तरह नक्की करके गुणों को प्रगट करना व दोषों को टालने का हेतु है। यह हेतु ठीक अच्छी तरह साथ ही रहना चाहिये। चाहे कोई भी बात हो। और ऐसी स्थिति में आत्मा का निर्णय किया जाये तो जीव को अवश्य ज्ञान के साथ ज्ञानबल प्रगट हुए बिना रहे नहीं। ज्ञान के साथ ज्ञानबल यानी कि यहाँ जिस जोर का अभाव बताया, उस जोर का अभाव नहीं रहेगा, जोर साथ ही साथ प्रकट होगा। गुड़ या शक्कर डालने पर मीठा होगा कि नहीं होगा यह प्रश्न उठता है क्या? कि होता ही है। क्योंकि वस्तु का ऐसा स्वरूप है। फिर भी वहाँ परपदार्थ में कभी दूसरी कोई चीज मिल जाने पर मीठा नहीं भी लगे, तो संभव है परन्तु यहाँ तो यथार्थ परिस्थिति में आकर यानी कि अपनी हितबुद्धि से अपने निजस्वरूप का निर्णय करे, ज्ञान करे तो जैसे ज्ञान में ज्ञानबल प्रगट न हो ऐसा बन ही नहीं सकता, हो ही नहीं सकता।

यह हमारे वर्तमान समाज में मुख्य समस्या है। 'गुरुदेवश्री' को बरसों तक सुनना हुआ। समाज में अनेक व्यक्ति परिचय में आयी हैं, सब का यह प्रश्न रहा है कि सुना, समझा, ठीक लगा, योग्य लगा, अनुकरणीय लगा, लेकिन अनुकरण करने के लिये जो जोर चाहिये वह जोर अंदर से नहीं आता है इसका क्या करे? यह समस्या है। हमारे समाज की यह समस्या है।

कहते हैं कि, वास्तव में गुड़ डालो और मीठा न हो ऐसा बिलकुल नहीं है। 'पूज्य बहिनश्री' तो बातचीत में कईबार अक्सर यह बात करते

हैं कि, कारण देवे और कार्य न हो ऐसा नहीं बनता। जैसा जितना कारण देवे उतना ही कार्य होता है। यह तो एकदम Solid बात है कि, जितना जो खुद कारण देता है उतना कार्य होता है। और एक जगह तो ऐसा कहा कि, ऐसा अपना स्वकार्य करने का जो निर्णय है, निर्धार है वही जीव ने नहीं किया है। एक बार ऐसा दृढ़ संकल्प कर ले कि मेरा कार्य जबतक नहीं होगा तब तक चैन से बैठना नहीं है तो जीव पूरा-पूरा इसके पीछे लग जाता है, ऐसे यदि प्रयत्न करे तो उसकी कार्यसिद्धि न हो ऐसा नहीं बनता।

मुमुक्षु :- उत्साह के प्रसंगों में तो सहज उछाला आ जाता है, लाना नहीं पड़ता।

पूज्य भाईश्री :- इसका कारण है कि उसे कीमत दे रखी है। उलटा निश्चय पड़ा है। जगत के संग-प्रसंगों में जो लाभ-नुकसान का निर्णय है, उस निर्णय के बल पर जीव को जोर उत्पन्न हो जाता है। निर्णयबल काम करता है। जगत के प्रसंगों में उलटा निर्णय काम करता है। यहाँ सुलटा निर्णय हो, आत्मा का जो स्वरूप, जितना सामर्थ्यवंत, जितना शक्तिमान है, ऐसा पदार्थ मैं हूँ ऐसा यदि खुद के ज्ञान में, निर्णय में यथायोग्यरूप से आये तो इसका बल उत्पन्न हुए बिना रहे नहीं। ज्ञान के साथ ज्ञान बल उत्पन्न हुए बिना रहता नहीं। यह अविनाभावी है।

ज्ञान और पुरुषार्थ को, यथार्थ ज्ञान और पुरुषार्थ के बीच अविनाभावी संबंध है। ज्ञान विपरीत हो, झूठा हो और पुरुषार्थ उत्पन्न हो ऐसा तीन काल में नहीं बनता। फिर जीव को समस्या क्यों रहती है? वह ऐसे कि मेरा ज्ञान तो यह शास्त्र जो कहता है वैसा ही है, शास्त्र के अनुसार ही मेरा जानना हो रहा है, ऐसा ही आत्मा मुझे लगा है, वैसा पदार्थ ही मैंने जाना है फिर भी जोर क्यों नहीं आता है? ऐसा प्रश्न करता है। कहते हैं कि तुझे भ्रांति में ऐसा लगता है कि,

मेरा ज्ञान शास्त्र के साथ सुसंगत है परन्तु वह बात ज्ञान की यथार्थता तो साबित नहीं करती है। क्योंकि अविनाभावीरूप से इसका जोर आना चाहिये वह जोर उत्पन्न नहीं हुआ।

लाटरी लगने पर उछाल कहाँ से आता है? कि इससे कितने पैसे मिलेंगे इसका उसे पता है। उन पैसों से वह कितनी-कितनी सहूलियत और सुविधाएँ जूटा पायेगा ये सब का बिना विचार किये अभेदरूप से पता चल जाता है। एक उत्साह में सब गर्भित हैं। वहाँ ज्ञान नहीं है क्या? सब ज्ञान है। भले ही उसके भेदरूप विकल्प नहीं चले परन्तु ज्ञान तो पूरा है।

वैसे यहाँ अनन्त गुण की संपत्ति है, इस संपत्ति का संपत्तिरूप ज्ञान हो और इसका बल उत्पन्न न हो यह बात कैसे बने? यह बात बनना ही नामुमकिन है। बनती ही नहीं। परन्तु स्पष्ट है कि उसे जिस तरह जानना चाहिए वैसे नहीं जाना हो। पर से भिन्न और अपने निजगुणों से, निज शक्तियों से अभिन्न ऐसा जो जानना चाहिये, जानने में आना चाहिये वैसे नहीं जाना।

कल एक बोल देखा था। ६३८। पन्ना १७५। 'लक्षण के निर्णय बिना लक्ष्य-आत्मा का निश्चय नहीं हो सकता।' कोई ऐसा कहे कि, हमें सीधा लक्ष्य नक्की करना है, तो वैसे नहीं बनता। 'अतः जिस प्रकार से...' यह अब कहा 'जिस प्रकार से पर से भिन्नत्व और स्व से परिपूर्णत्व...' स्व से अभिन्न इतना नहीं लिया। परन्तु स्व से परिपूर्ण है। स्वयं अपने स्वरूप से परिपूर्ण होने से जीव को किसी की अपेक्षा, किसी की मदद, किसी के प्रति दीनता व पामरता करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा है। 'समझ में आये, उस प्रकार...' ऐसा है। 'निर्णय हो उसे ही लक्ष्य-आत्मा का निर्णय होता है कि ज्ञानमात्र सो ही आत्मा है।' ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है। 'देहादि अथवा रागादि आत्मा नहीं है।'

ऐसा जीव को निर्णय में आता है। और ऐसा निर्णय में आता है तब उसका जोर आता है, अवश्य आता ही है। जोर नहीं आये ऐसा कभी नहीं बनता।

यहाँ (कहते हैं) 'तू स्वयं जोर नहीं लगाता...' क्योंकि यथार्थ ज्ञान भी नहीं किया है, यथार्थ निर्णय भी नहीं किया है, इसलिये जोर भी सहज जो तुझे आना चाहिये वह नहीं आता है, फिर उसे करता नहीं है ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु :- स्व से परिपूर्ण और पर से भिन्न लक्षण कहा।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, लक्षण तो ज्ञान है। ज्ञान लक्षण से जैसा, जैसा माने कैसा? कि पर से भिन्न और स्व से परिपूर्ण वैसा। जैसे नक्की हो, ऐसी रीत हो कि जिसमें ऐसा नक्की हो, तब उसे लक्ष, लक्षण से लक्ष होने योग्य। लक्ष्य नाम मुख्य रहने योग्य आत्मा का निर्णय हुआ ऐसे कहा जाता है।

दृष्टांत में वह बात है, कि 'बाहर के संसारप्रसंगों में कितना चाव और उत्साह होता है' क्योंकि उसे कीमत दे रखी है। चाव और उत्साह आने की वजह उसे दी हुई कीमत है। कीमत से भी ज्यादा तो उसे अपना माना है इसकी विशेषता है, इसका ममत्व है।

दूसरे से अपनी चीज कमजोर हो तो भी मेरी है इसमें उसकी खुशी है। ठीक! क्या है? दूसरे से कमजोर हो, संयोग में कमजोरी हो, फिर भी अपना हो उसमें जीव को खुशी है। पड़ौसी का लड़का ज्यादा होशियार हो, गुणवान हो, दिखने में अच्छा हो, सब तरह से बेहतर हो, खुद का लड़का वैसा न हो परन्तु इससे थोड़ा कमजोर हो तो भी अपनेवाले में रस है। अपनत्व में उसे रस है और खुशी है, ममत्व है वहाँ उसे उत्साह है। ऐसी बात है, अच्छा हो या न हो इससे इतना मतलब नहीं है परन्तु जीव को अपनत्व हो वहाँ मतलब है। उत्साह किसमें है?

वैसे यहाँ जो जाननेवाला स्वरूप है, इसमें अपनत्व न हो और परतत्त्व के रूप में इसका जानपना किया हो, पररूप जबतक उसे जानता है, तबतक कहीं भी उत्साह व रस नहीं आता, जीव को भीतरमें से जोर नहीं आता। इसलिये वेदन से ग्रहण कराते हैं। वेदन से ग्रहण कराने के पीछे कारण ऐसा है कि, उसमें अपनत्व अनुभवगोचररूप है। अपनत्व ज्ञान में, आत्मा में अपनत्व अनुभवगोचररूप है। विचार-विकल्प से भेद-भिन्न भेद पड़ता है, भिन्न रहना हो जाता है। मैं ऐसा आत्मा, मैं परिपूर्ण आत्मा, मैं ध्रुव आत्मा, मैं त्रिकाली आत्मा, मैं शुद्धात्मा। इस तरह मैं और आत्मा के बीच भेद रहता है तब तक अपनत्व नहीं है। भेद स्वयं ही दीवार है, वह विकल्प की दीवार है, राग की दीवार है। जो उसे अपने स्वानुभव में अंतरायरूप है।

जबतक अनुभव नहीं होता तबतक विकल्प रहता है। निर्विकल्प अनुभव नहीं होता तबतक विकल्प रहता है। सविकल्पदशा रहती है। फिर भले ही वह विकल्प आत्मा के स्वरूप संबंधित हो। परन्तु स्वरूप संबंधित विकल्प भी अभेद अनुभव में भेद करनेवाला, बीच में बाधाकारक, अंतराय है। वह विकल्प का पर्दा है। वहाँ अभी आत्मा के दर्शन नहीं हुए। वह विकल्प जो है उसे तोड़ने के लिये निर्विकल्प जो वेदन है, उसके अवलोकन में आये तब उसमें जो अपनत्व है, अपने आप में जो अपनत्व है इसकी समझ आती है। वह समझ में आया अपनत्व अभ्यास द्वारा आविर्भूत होता जाता है तब उसे अनुभव होता है, अभ्यास से अनुभव होता है। ज्ञान के बारम्बार के अभ्यास से (अनुभव होता है)।

अभ्यास द्वारा प्राप्त दशा का विषय लिया है न २३६ में? अनुसंधान बहुत स्पष्ट है। 'समझ के द्वारा ज्ञान में जैसे जैसे भाव-भासन विकसित होता जाता है...' ऐसा लिया है। 'वैसे-

वैसे ज्ञान की सामर्थ्य बढ़ती जाती है और ऐसी बढ़ती हुई ज्ञान सामर्थ्य द्वारा मोह शिथिल होता जाता है।' सामर्थ्य कहो या जोर कहो। ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ता जाता है। सामर्थ्य कहो या जोर कहो। यहाँ जोर का प्रश्न चला है। जो अनुसंधान है वह इतना है कि वह ज्ञान जो है वह जोर की उत्पत्ति का कारण है। ज्ञान में वस्तु जैसी है वैसी अवभासित हो, बिलकुल ठीक जैसी वस्तु है वैसी भासित हो, तब ज्ञान में सामर्थ्य आता है, तब ज्ञान जोर पकड़ता है। वह ज्ञान जोर पकड़ता है वह किसका जोर पकड़ता है? कि स्वयं जैसा स्वरूप से निर्विकल्प है वैसा जोर है। वैसा ही ऐसा जोर है। वहाँ इससे विरुद्ध जो विकल्प हैं, वे निर्बल होकर नष्ट होते हैं। ऐसा बनता है। अतः ज्ञान ही कारण है। सो तो आगे लिया है। अंतर्मुख होने में ज्ञान ही कारण है दूसरा कोई अंतर्मुख होने में कारण नहीं।

जैसे परपदार्थ का संपर्क होने में ज्ञान ही साधन है, ज्ञान द्वारा ही परपदार्थ को जानने में और जानकर वह पर होने पर भी स्वरूप में उसका संबंध जोड़ने में ज्ञान ही निमित्त होता है और उस ज्ञान द्वारा ही वह बहिर्मुख होता है। वैसे उसी ज्ञान द्वारा वह अंतर्मुख होता है। यह परिस्थिति है।

जब जीव बहिर्मुख ढलन को छोड़ता है तभी अंतर्मुखता उत्पन्न होती है। जो कि ज्ञान अपने आपका अवलोकन करने लगे तब। अपने में अपने आपको जब खुद जाने तब। तब जीव को स्वयं को अपने संबंधित रस आता है, उत्साह आता है और जोर आता है। तबतक जीव को जोर नहीं आता। यह जोर का, पुरुषार्थ का प्रश्न काफी महत्व का है।

पुरुषार्थ जोर क्यों नहीं पकड़ता? भाई! ज्ञान में पुरुषार्थ उजागर हुए बिना रहे नहीं और अज्ञान में पुरुषार्थ उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं। दोनों बात बिलकुल साफ है। अज्ञान हो और उस अज्ञान

को ज्ञान मान लिया हो। शास्त्र में नों तत्त्व का जैसा स्वरूप कहा है वैसा स्वरूप यानी जैसा शास्त्र में जैसा स्वरूप कहा है ठीक वैसा ही मुझे ज्ञान है। बिलकुल ऐसा ही ज्ञान होने पर भी मुझे पुरुषार्थ क्यों नहीं उठता? यह बात नामुमकिन है क्योंकि ज्ञान का और पुरुषार्थ का अविनाभावी संबंध है। कैसे ज्ञान का? कि सही ज्ञान का। मिथ्याज्ञान का नहीं।

'ऐसे ही अपने अन्तर स्वभाव का चाव और उत्साह होना चाहिये।' भीतर में अपना स्वभाव महा आश्चर्यकारी व अनन्त महिमावंत है, ऐसा जानकर उसके प्रति चाव और उत्साह आना चाहिये। २५ साल से परदेश में गया हुआ लड़का हो, स्वजन हो, इनके आने के समाचार मात्र से खुशी हो जाती है, प्रत्यक्ष मिलने पर तो कितने रस में बह जायेगा यह समझाने की भी जरूरत नहीं है।

यहाँ अनादिकाल से खोया हुआ महान परमात्मपद है, इसका पता मिलने के ये सब समाचार हैं। अनन्तकाल से खोये हुए परमात्मपद की सूचना देनेवाले ये सारे समाचार हैं इसमें जीव को उत्साह आये, अभेद अनुभव में तो उत्साहपूर्वक ऐसा मेहसूस न हो ये कैसे बने? ऐसा कहते हैं। फिर भी जब नहीं लगता है तो महामोहनीय का बल प्रवर्तता है ऐसा जानना चाहिये।

'श्रीमद्जी' ने एक जगह ऐसा कहा है कि, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का योग हो, यानी कि परम सत्य के, परम सत्यस्वरूप को प्रतिपादित करनेवाले मिले और यह जीव परम सत्य के दर्शन न करे, अनुभव न करे, न इसे देखे, दिखाने पर भी देखे नहीं; निस्पृही ऐसे देव-गुरु-शास्त्र; कि जिन्हें कुछ नहीं चाहिये, उनके दिखाने पर भी यह जीव अगर नहीं देखता है तो ऐसा जानना चाहिये कि महामोहनीय का बल प्रवर्तता है। मोह बलवानरूप से प्रवर्तता है। यह २६४ पूरा हुआ।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२३-२४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.२-८-१९९१

२३वाँ पत्र। 'आपका व... का पत्र मिला था। मेरे सोनगढ़ आकर श्री गुरुदेव की वाणी का लाभ लेने वास्ते लिखा, सो जाना। मैं शायद सितम्बर के अन्त में वहाँ आ सकूँगा। इसके पहले आना होता नहीं दिखायी देता।' अगस्त में लिखते हैं और सितम्बर उसके बाद का महीना, लगभग नवरात्रि में आता या दीवाली पर आता, इससे पहले आये तो कईबार अपने पर्युषण में आये। इसके सिवाय नहीं आये। 'मुझे आपके पहले के पत्र नहीं मिले थे, कारण समझ में नहीं आया। आशा है गुरुदेवश्री सुख-साता में विराजते होंगे' इसलिए मात्र पत्र की पहुँच लिखी है। २३वाँ पत्र (है)।

फिर नीचे "गुरुदेव'श्री' के दो वचनमृत है।

द्रव्य है। 'द्रव्य, द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है और पर्यायदृष्टि से सक्रिय है।' अथवा गुणदृष्टि से स्वभावरूप है और पर्यायदृष्टि से परिणामरूप है। यहाँ पर क्या है ? नय विवक्षा है। इसलिए द्रव्यदृष्टि से देखें अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखें तो वह निष्क्रिय है परन्तु प्रमाणज्ञान के साथ में नय होते हैं, इसलिए प्रमाणरहित अकेला द्रव्य लेने का प्रश्न नहीं रहता। पर्यायदृष्टि से पर्यायार्थिक नय से देखें तो वह सक्रिय परिणामित होता हुआ दिखायी देता है, परन्तु तब भी निष्क्रिय अंश तो ज्ञान में होता ही है, क्योंकि प्रमाणपूर्वक नय वर्तते हैं न ?

'एक ओर ज्ञानसिन्धु है और दूसरी ओर भवसिन्धु है, जहाँ रुचे वहाँ जा।' भव का भी समुद्र है। संसार है, वह भव का समुद्र है, अन्त नहीं है। आत्मा अन्दर ज्ञान का समुद्र है, उसे भी अन्दर में अन्त नहीं है। दोनों तलरहित समुद्र है। सिन्धु अर्थात् समुद्र। एक ओर ज्ञान का सिन्धु है तो दूसरी ओर भव का सिन्धु है, तुम्हे जहाँ रुचे वहाँ जा ! यह तो मनुष्य के सामने अभक्ष्य की बात आवे, तब ऐसा कहता है कि यह तो भगवान ने बनाया है; तब हम खाते है न, खाने के लिए

तो भगवान ने बनाया है, (तो फिर) भगवानने जहर भी बनाया है, खा न ! तो वहाँ इनकार करेगा। जहर खा लेता है ? इसप्रकार रुचिकर पकड़ता है। यहाँ यह कहते हैं कि तुझे क्या रुचता है - निर्णय कर ले। तेरा निर्णय तुझे करना है, हमें कुछ लेना-देना नहीं है।



इस मार्ग की एक बहुत सुन्दर बात निस्पृहता की है। कहनेवाला जीव सामनेवाले जीव को परम हित की बात करे, उत्कृष्ट हित की बात करे, पूर्व में उसका हित न हुआ हो - ऐसे अपूर्व हित की बात करे; तथापि कोई लेना या देना; कोई अपेक्षा बुद्धि बिना (कहता है)। संसार में ऐसा व्यवहार नहीं है। संसार में हे तो उसके समक्ष लिये बिना नहीं रहते। इस मार्ग की यह सुन्दरता है कि किसी से कुछ नहीं चाहिए; किसी के साथ कोई अपेक्षा नहीं है। सत्य यह है, जिसे गरज हो, अपने हित की गरज हो, वह ग्रहण करे, वरना यह हम अपने रास्ते चले। जगत को अनन्त ज्ञानियों का पता नहीं चला कि यह ज्ञानी हो गये हैं और सिद्धालय तक पहुँच गये हैं।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु की भूमिका में जीव को आपस में निस्पृहता से रहना चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, निस्पृहता से रहना चाहिए। यदि ज्ञानी होना होवे तो; मुमुक्षुता तो ज्ञानदशा के प्रशिक्षण की स्थिति है। मुमुक्षुता का दूसरा नाम क्या है ? जिसके फलस्वरूप में ज्ञानदशा उत्पन्न हो, वह तो प्रशिक्षित RESULT है। जिसे RESULTED POSITION कहा जाता है; वह तो फलश्रुति है। इससे पहले शिक्षा किसकी हुई है ? मुमुक्षुदशा में शिक्षा हुई है। यदि ज्ञानी निस्पृह हैं तो कहे बिना यह बात सिद्ध होती है कि, उन्होंने मुमुक्षुदशा में निस्पृहता

सीखी थी, तब ज्ञानी हुए हैं, वरना ज्ञानी नहीं होते। यह सीधी बात है। जहाँ अपेक्षा रखे, वहाँ सब दोष आकर खड़े रहेनेवाले हैं। भय भी आनेवाला है और सब आनेवाला है। वहाँ कोई दोष बाकी नहीं रहता है।

मुमुक्षु :- वे दोष हों तो समझ लेना कि अन्दर में अपेक्षा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अपेक्षा होवे तो ही होते हैं। यह (निस्पृहता की) बहुत बड़ी बात है।

मुमुक्षु :- सूत्र जैसी बात की है - जहाँ रुचे वहाँ जा।

पूज्य भाईश्री :- हाँ तुझे जहाँ रुचे वहाँ जा। हमें क्या है ? हम तो कहकर, अंगुलीनिर्देश कर दूर रहे। अंगुलीनिर्देश का पुण्य कहते हैं, परन्तु हमें तो वह भी नहीं चाहिए। लोग ऐसा कहते हैं कि अंगुली निर्देश का पुण्य है न ! रास्ता तो दिखाया। तो कहते हैं - वह पुण्य भी हमें नहीं चाहिए। सन्मार्ग को प्रवर्तने के लिए, प्रवर्तने के लिए सहज बंधा हुआ पुण्य भोगे बिना हि निर्जरित हो जाओ। एसी भावना होती है। उसका उपभोगकिये बिना वह निर्जरित हो जाओ ! उसे उदयाभाविक क्षय कहते हैं। उसे चाहते नहीं। पुण्य बंधा जाता है, परन्तु उसे चाहते नहीं है, इतने निस्पृह हैं।

बाद में २४वाँ पत्र है। यह अक्टूबर का है।

‘चैतन्यमूर्ति श्री गुरुदेवाय नमः’

‘आपका वात्सल्ययुक्त पत्र यथासमय मिला। भरतक्षेत्र का अलौकिक कर्ता-कर्म अधिकार...’ देखा ! भरतक्षेत्र का अलौकिक कर्ता-कर्म अधिकार है, भरतखण्ड में एसा यह अधिकार अन्यत्र कहीं नहीं है। मिथ्यात्व को छेदने की बात है न ! **‘आत्मरस से ओतप्रोत वक्ता...’** ‘गुरुदेव’ को क्या विशेषण लगाया है ? आत्मरस से ओतप्रोत वक्ता। वे (जो) कहते हैं, वह रस में आकर कहते हैं, अकेले रस से सराबोर प्रवचन आते हैं।

‘साधक मुमुक्षुगण श्रोता...’ मुमुक्षुगण में भी साधक आत्माएँ बैठी हैं। **‘जिनालय की सामूहिक भक्ति...’** और तब दोपहर में जिनालय में ‘बेन-

बहिनश्री’ भक्ति कराते थे, वह सामूहिक भक्ति, **‘निरन्तर अमृतवाणी से संस्कारित-तृप्त भूमिस्थान...’** और यह ‘गुरुदेव’ की अमृतवाणी से संस्कारित हुआ-ऐसा जो भूमिस्थान - ‘सोनगढ़’ की भूमि; **‘आदि समवसरण - से दृश्य...’** यह समवसरण जैसे दृश्य हैं। **‘पुण्यहीन को नहीं सम्भवते; अतः वियोग है।’** मेरे जैसे पुण्यहीन को ऐसे संयोग नहीं है, उनका मुझे वियोग है। वियोग के काल में इतनी महिमा की है। मुफ्त में मिले न, उसे किंमत नहीं होती। मुफ्त में पुण्ययोग से मिल जाए, इसलिए किंमत नहीं होती, परन्तु जिसे वियोग होता है, उसे ख्याल में आता है कि वह कैसी चीज है।

‘लाभ प्राप्त करने की तीव्र प्रतीक्षा है।’ लाभ प्राप्त करने की मुझे तीव्र (प्रतीक्षा) है। मैं राह देखता हूँ। प्रतीक्षा अर्थात् राह देखना। यह प्रतीक्षालय नहीं (होते) स्टेशन पर और एरोड्रम पर ? हिन्दी में लिखते हैं ‘प्रतीक्षालय’ पुरुषों के लिए प्रतीक्षालय, बहिनों के लिए प्रतीक्षालय, पहले वर्ग के लिए प्रतीक्षालय, दूसरे वर्ग के लिए प्रतीक्षालय। वहाँ बैठकर राह देखना। मैं भी राह देखता हूँ। ‘गुरुदेव’ के संयोग की मैं राह देख रहा हूँ कि ऐसा योग मुझे कब प्राप्त हो ?

प्रश्न :- ज्ञानी को मिलने का प्रतीक्षाभाव आता है।

समाधान :- हाँ, आता है। ज्ञानी को सत्संग की बहुत भावना रहती है। ‘श्रीमद्जी’ को भी इतनी ही भावना रही है; और ‘सोगानीजी’ को भी इतनी ही सत्संग की भावना रही है। तो मुमुक्षु को होवे, यह कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं रहती। ‘हैद्राबाद’ से दौड़े चले आना, दूसरा क्या ? ‘हैद्राबाद’ से आते हैं, छोटी उम्र में अच्छा रंग लगा है।

मुमुक्षु :- भक्ति का प्रकार है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, भक्तिरस है। ‘गुरुदेव’ के प्रति भक्ति का रस है। भले ही ‘सोनगढ़’ तीर्थ का बखान किया है, वहाँ के श्रोता का बखान किया है; अरे ! भले ही वहाँ की धूल का बखान करे या ‘गुरुदेव’ का बखान करे परन्तु उनका

भक्तिरस है, दूसरा कुछ नहीं।

मुमुक्षु :- सितम्बर में आने का लिखा था, परन्तु आये नहीं, लगते।

पूज्य भाईश्री :- लगता नहीं, अब क्या पता चले। आगे-पीछे कोई लाइन निकल पड़े तो ख्याल आये, नहीं तो पता चले ऐसा नहीं है।

‘पूज्य गुरुदेव कहते हैं...’ देखो ! तत्त्व का विषय ‘गुरुदेव’ कहते हैं - ऐसा करके डालेंगे। ‘गुरुदेव’ का बहुमान करते हैं न ! ‘बहुमान आदि के शुभराग की महिमा नहीं आकर, उत्कृष्ट चिदानन्द स्वभाव की अनुपम महिमा के दृढ़ निर्णय का पराक्रम होने पर अन्तर स्वभाव में वलण (झुकाव) होता है।’ अन्तर्मुख कब होता है ? जीव के परिणामों का झुकाव अन्तर्मुख कब होता है ? कि बहुमान आदि के शुभराग की महिमा नहीं आनी चाहिए और उत्कृष्ट चिदानन्दस्वभाव की अनुपम महिमा के दृढ़ निर्णय का पराक्रम होने पर। देखो ! निर्णय की भूमिका ले ली। निर्णय, महिमा अविनाभावी है। जिसे स्वरूप निर्णय होता है, उसे स्वरूप महिमा अपूर्व होती है। स्वरूप महिमा अपूर्व होवे तो दृढ़ निर्णयपूर्वक होनी चाहिए। शुरू होवे (तब) अन्तर स्वभाव का झुकाव हो, (वह नहीं होता) वहाँ तक अन्तर स्वभाव में झुकाव नहीं होता।

अभी अपने वहाँ तो प्रश्न पूछा जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और आत्मा आनन्दस्वरूप है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भलीभाँति हमने उसका स्वरूप समझा, परन्तु अब महिमा किस प्रकार करना ? - ऐसा प्रश्न उपजाते हैं। महिमा किस प्रकार करना ? मुमुक्षु यह प्रश्न उठाते हैं। हमें महिमा किस प्रकार करना ?

भाई ! पदार्थ महिमावन्त भासित हो और महिमा न आवे - ऐसा नहीं होता और पदार्थ की महिमा भासित न हो तो यह प्रश्न खड़ा हुए बिना नहीं रहेगा कि मुझे महिमा किस प्रकार करना ? आत्मा में अनन्तज्ञान अवश्य, अनन्तसुख अवश्य, परन्तु महिमा किस प्रकार करना ? तो तु आत्मा की बात नहीं करता, परन्तु तू (दूसरी बात करता है।)

‘जयसेनाचार्य’ने प्रवचनसार की टीका करते-करते आत्मा का अर्थ किया है कि आत्मा आत्मा आत्मा आत्मा आत्मा - इसकी बात आवे, परन्तु आत्मा कौन ? ‘आत्मा इति को’ ? ‘को इति चेत’ आत्मा अर्थात् कौन ? दो शब्द में उत्तर दिया है - ‘अहं इति।’ बस ! जाओ। आत्मा अर्थात् मैं; दूसरा कोई नहीं। अब, आत्मा में अनन्त सुख है, मेरे में नहीं, मानों किसी में होगा। फिर महिमा करने का।

देखो ! आत्मा अनन्त महिमावन्त है या नहीं ? तो कहता है - हाँ, आत्मा तो अनन्त महिमावन्त है। अब, यदि तू हाँ करता है कि आत्मा अनन्त महिमावन्त है तो अब मैं तुझसे प्रश्न पूछता हूँ कि यदि आत्मा अनन्त महिमावन्त है तो तुझे महिमा नहीं आने का क्या कारण है ? अब, यह तू मुझे समझा। अपने परिणाम को खोजकर मुझे समझा कि यदि तुझे समझ में तो आत्मा अनन्त महिमावन्त लगा है, अब तु कह कि महिमा नहीं आती (तो) तुझे किसलिए नहीं आती यह मुझे समझा न ? अनन्त महिमावन्त की हाँ किस लिए की ? अनन्त महिमावन्त आत्मा ? हाँ, अनन्त महिमावन्त। (तो फिर) महिमा क्यों नहीं आती ? उसने अपने परिणामों का अवलोकन नहीं किया कि महिमा किसलिए नहीं आती। अवलोकन करे तो पता चलता है कि अनात्मा कि महिमा बहुत करता है, इसलिए महिमा नहीं आती। एक म्यान में दो तलवारे नहीं रहती। महिमा तो विरुद्ध वस्तुओं की नहीं होती। दुश्मन की भी महिमा करे और मित्र की भी महिमा करे - ऐसा कभी नहीं होता, यह नहीं हो सकता। परस्पर विरुद्ध दो की महिमा नहीं हो सकती। जड़ की भी महिमा और चेतन की महिमा ! स्व की भी महिमा और पर की भी महिमा ! (यह) नहीं हो सकता।

प्रश्न :- समझा है यह कहता है, वह किसके आधार से कहता है ?

समाधान :- कल्पना के आधार से। भाई ! उसे कल्पना होती है कि मैं समझ गया हूँ। समझा नहीं है, परन्तु उसे समझने की कल्पना होती है, उसके आधार से कहता है कि मैं समझा हूँ। बात

में कोई दम नहीं हैं। उस समझ में कोई दम नहीं है।

प्रश्न :- भ्रम है।

समाधान :- हाँ, नया विभ्रम। विभ्रम के ऊपर एक कलश चढ़ाया है। नया विभ्रम हुआ है कि मैं समझा; विभ्रम बढ़ा है।

मुमुक्षु :- इसमें सीधा दर्शनमोह बढ़ गया।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सीधा ही बढ़ता है। पर्यायदृष्टि, वह दर्शनमोह है। पर्यायबुद्धि - 'पर्यायमूढ़ा परसमया'। अब, यह जो समझ की क्षयोपशम की पर्याय हुई, उसमें अहंपना किया, संतोष आया। पर्याय में पर्यायबुद्धि थी और पर्याय में सन्तुष्ट हुआ, इसलिए उसने दर्शनमोह तीव्र किया।

प्रश्न :- गृहीत में गया ?

समाधान :- उसमें ऐसा है कि बुद्धिपूर्वक होवे तो गृहीत में और अनजानपने होवे तो अगृहीत में (जाता है)। दो भेद पड़ते हैं। समजपूर्वक मूल करे तो गृहीत में, और ऐसा का ऐसा तो अनादि से वर्तता ही है; अगृहीतरूप से तो पर्यायबुद्धि चालू ही है, वह अगृहीत में है, अनादि से है। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय को अगृहीत मिथ्यात्व अनादि से है। देहात्मबुद्धि, विकल्पात्मकबुद्धि, पर्यायबुद्धि अनादि से है; परन्तु समझकर भूल करे तो गृहीत मिथ्यात्व की भूल है।

प्रश्न :- ज्ञान के क्षयोपशम में तो सब स्वीकार किया है, परन्तु फिर भूल करे तो गृहीत में जाता है न ?

समाधान :- हाँ जाता है न, जाता है। समझ नहीं होने पर भी 'समझता हूँ' ऐसा माने, इसलिए गृहीत में जाता है। तो स्पष्ट बात है, यह स्पष्ट बात है। यह बहुत कठिन बात है। कहते जाएँ तो समाज में खलबलाहट होवे ऐसा है, इसलिए कितनी ही बात कहने जैसी नहीं है।

हम 'कानजीस्वामी वाले', हम कोई 'श्रीमद् वाले' नहीं हैं - यह गृहीत या अगृहीत कहो देखे ? गृहीत मिथ्यात्व है। इसके लिए धर्मदासजीने यह कहा कि मैं विष्णुमति नहीं, मैं बौद्धमति नहीं, परन्तु जैनमति नहीं। 'श्रीमद्जी'ने यह पद लिया है :

'मतवाला समझे न।' मतवाला है, वह नहीं समझता। फिर भले ही जैनमत के नाम से बातें करे या 'कानजीस्वामी' के मत की बात करे या 'श्रीमद्जी' के मत की बात करे; गृहीत में चला जाता है, सीधा ही वह। यह सम्प्रदायबुद्धि है। ज्ञानी किसी गच्छ में नहीं है, मत में नहीं है, वाड़े में नहीं; आत्मा में है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- व्यवहार में तो ऐसा बोला जाता है न कि...

पूज्य भाईश्री :- बोला तो ऐसा जाता है कि यह भाई किसके पुत्र ? कि इनके पुत्र। व्यवहार में बोलने में कहाँ आपत्ति है ? बोलने में ऐसा कहा जाता है कि मुझे बुखार आया है। बोलने में आपत्ति कहाँ है ? परन्तु जाना तो ऐसा चाहिए न कि (बुखार) शरीर को आया है, मुझे नहीं। समझ सही होनी चाहिए। बोले, पानी का लोटा; बोलने में क्या बाधा है ? बोलने में कोई बाधा नहीं है, परन्तु समझ में बाधा है। व्यवहार में तो व्यवहार की भाषा होती है, उसमें बाधा नहीं है, परन्तु समझ में स्पष्टता होनी चाहिए कि कहीं सम्प्रदायबुद्धि में रहने का नहीं है।

मुमुक्षु :- पंचाग में स्पष्ट लिखा है, हर वर्ष पंचाग बाहर प्रसिद्ध होता है, उसमें सम्प्रदायबुद्धि नहीं - ऐसा "गुरुदेव'श्री' का वाक्य लिखा है। सम्प्रदायबुद्धि नहीं चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- नहीं चाहिए। सम्प्रदायबुद्धि में से तो इतने अधिक पाप जन्मते हैं कि बात छोड़ दो; फिर तो कषाय मन्द रहना कठिन है, ऐसी कषाय है। ऐसे कि यह हमारे सम्प्रदायवाले, हम दूसरे को नहीं मानेंगे। परन्तु ज्ञानी हो या यदि कोई हो, उसने देव-शास्त्र-गुरु सबको उड़ाया, एक सत्पुरुष को उड़ाया तो उसने देव-शास्त्र-गुरु सबको उड़ाया है।

मुमुक्षु :- अनन्त को उड़ाया।

पूज्य भाईश्री :- अनन्त तीनों काल के (ज्ञानियों को) उड़ाया। सम्प्रदायबुद्धि में कितना बड़ा अपराध है। कहो, देखे। Enlarge करके तो छाती बैठ जाए ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- 'सोनगढ' अर्थात् अनन्त ज्ञानी।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसलिए तो सोनगढ में पहले ऐसा लिखा था। 'दिगम्बर' शब्द प्रयोग नहीं था, 'सनातन जैनदर्शन' ऐसा शब्द प्रयोग करते थे। हाँ, 'स्वाध्याय मन्दिर' पहले-पहले बना, तब उसके ऊपर 'सनातन जैन धर्म' (लिखा था), दिगम्बर जैनधर्म नहीं लिखा था। सनातन जैनधर्म शब्द था, क्योंकि 'गुरुदेव' स्वयं श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतवाद में नहीं पड़ना चाहते थे। यह परिवर्तन करने के बाद की बात है।

मुमुक्षु :- मन्दिर हुआ तब लिखा है न ? मन्दिर पर भी लिखा था सनातन।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सनातन जैन मन्दिर; सनातन जैन धर्म, दिगम्बर-श्वेताम्बर नहीं। प्रारम्भ में यह परिस्थिति थी, फिर यह दिगम्बर बहुत आने लगे। उन लोगों को थोड़ा Pressure हुआ कि भाई ! इसमें तो श्वेताम्बर-दिगम्बर अलग नहीं करो तो बहुत अधिक तकलीफ होगी। दिगम्बर आम्नाय तो स्वीकार करते हो न ? श्वेताम्बर आम्नाय का स्वीकार नहीं है - यह बात तो पक्की है न ? यह बात पक्की है। लोग मत में नहीं चढ़ जाँएँ, (इसलिए नहीं लिखा।) तो कहे यह दूसरी बात है। स्पष्ट करो, भाई ! इसलिए बाद में (लिखा।)

मुमुक्षु :- सनातन शब्द तो रखा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, है। सनातन का अर्थ क्या है कि त्रिकालवर्ती। सनातन का अर्थ है त्रिकालवर्ती। तीनों काल में एकरूप धर्म वर्तता है, उसे सनातन धर्म कहते हैं। नया नहीं जन्माया है। कानजीस्वामीने नया नहीं निकाला है या किसी धर्मात्मा ने नया नहीं निकाला है। किसी तीर्थंकर ने नया नहीं निकाला है। धर्मात्मा की कहाँ बात करनी; किसी तीर्थंकर ने नया धर्म (नहीं निकाला है)। 'महावीरस्वामी' का धर्म नहीं है; 'ऋषभदेवस्वामी' का धर्म नहीं है। अनन्तकाल से अनन्त तीर्थंकरों का यह धर्म चला ही आता है। यह तो वस्तु का स्वभाव है। 'वस्तु सहावो धम्मो' उन्होंने ने तो दर्शाया है, इसलिए उनका नाम जोड़ते हैं। जिसने दर्शाया

है, उसका नाम व्यवहार से जोड़ते हैं। यह किसी का धर्म नहीं है, किसी के नाम से धर्म नहीं है।

मुमुक्षु :- सख्त दिगम्बर जैन मन्दिर - ऐसा शब्द प्रयोग किया है बराणपुरमें... संप्रदाय वहाँ धर्म नहीं और धर्म वहाँ संप्रदाय नहीं।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। वे गृहीत में चले गये। दुःख लगे ऐसा है। अभी कहै तो दुःख लगता है। 'श्रीमदवालोंको कहें तो उन्हें दुःख लगता है और अपनेवालों को कहें तो अपने को यहाँ दुःख लगे ऐसा है, परन्तु यह समझने जैसा है। आत्महित के लिए तो समझने योग्य है और इस सम्प्रदायबुद्धि में फँसने योग्य नहीं है। इसीलिए तो तुमने कहा कि अपने को वहाँ पैसा भेजना है तो हमने वहाँ पैसे भेजे हैं। कितने ही नहीं समझते, उन्हें अच्छा नहीं लगा, परन्तु आपने कहा कि भाई ! हम यहाँ वचनमृत पढ़ते हैं, हमें सबके परिणाम में उनके प्रति बहुभाव आता है तो फूल नहीं तो फूल की पंखुड़ी हम बहुमान करें। हम तो सत्पुरुष का बहुमान करते हैं। पैसा तो धूल वस्तु है। बात तो बहुमान की थी तो अपने बहुमान किया। आपने कहा बहुमान करना है तो इन्कार किया हमने ? उस समय पता था कि इसमें थोड़ी हलचल होगी। भले ही होने दो, दूसरा क्या ? किसी को हलचल होवे, इसलिए अपने को अपने बहुमान के परिणाम को किसलिए रोकना ?

मुमुक्षु :- यह तो आपने सिद्ध कर दिया कि हम बाड़ाबन्धी में नहीं हैं।

पूज्य भाईश्री :- (हाँ), वाड़ा-बन्धी मैं नहीं, यह वहाँ सिद्ध किया कि हम वाड़ा-बन्धी में नहीं हैं। इसलिए तो मैं वहाँ जाता हूँ। वहाँ प्रवचन देने भी जाता हूँ। इसीलिए कि हम वाड़ा-बन्धी में नहीं हैं। उन लोगों में जो अभ्यासी और समझदार लोग थे उन्होंने अफवाह सुनी। ऐसी अफवाह सुनी कि 'कानजीस्वामी' निश्चय की बात ऐसी की ऐसी दिये रखते हैं, पात्रता देखे बिना। 'कृपालुदेव' ने कैसा विवेक किया है कि एक-एक जीव की पात्रता देख-देखकर उतनी बात की और अधिक बात नहीं की।

ये तो सबको निश्चय की बात सम्यग्दर्शन की बात करने लगे और फिर लोग ठीक-ठीक बोलते हो गये और अमुक तो वापिस खाने-पीने का ठिकाना न हो ऐसे होते हैं और वे फिर बोलते हैं इस प्रकार कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता और ऐसा है, वैसा है। इसलिए उन लोगों को तो ऐसा हो गया कि 'कानजीस्वामी' सब ऐसे शिष्यों को तैयार करते हैं।

भाई ! अभी के जैन को देखकर कहीं महावीर स्वामी का निर्णय होता है ? ये बनिये बाजार में जाकर व्यापार करने बैठे हैं, मनुष्य मनुष्य का खून पीता है - इस प्रकार व्यापार करते हैं या नहीं ? किस प्रकार करते हैं ? वे लोग बहुत-बहुत खराब बोलते हैं, ये लोग पानी छान-छानकर पीते हैं, रक्त को बिना छाने पीते हैं। क्या कहे ? इस प्रकार महावीरस्वामी का निर्णय हो सकता है भला ? ऐसे बाजार में कोई बोलता हो उस पर से कहीं 'कानजीस्वामी' का निर्णय होता है ? जब वे लोग यह बात सुनते हैं, 'श्रीमद्जी' के वचनामृतमें से हम लोग ऐसा कहते हैं कि यहाँ पर ऐसी ऐसी गहरी बात है तो वे लोग चौक जाते हैं कि अरे.. ! 'कानजीस्वामी' वाले आते हैं ! ऐसा होता है। आज उन लोगों को अभिप्राय बदलना पड़े - ऐसी परिस्थिति खड़ी हुई है। 'गुरुदेव' के लिए अभिप्राय बदलना पड़े ऐसी परिस्थिति उपस्थित हुई है। उन लोगों में समझदार वर्ग में जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति हैं, वे (कहते हैं कि) नहीं ! अनादर नहीं करना, तिरस्कार नहीं करना; 'कानजीस्वामी' के नाम से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। वे इसलिए बुलाते हैं, वरना तो किसीको आने नहीं दे। 'कानजीस्वामी' वाले वक्ता को आने नहीं दे। चाहे जैसा वक्ता हो नहीं ! जोरदार प्रख्यातिवाला (हो तो भी) वहाँ आने नहीं दे, वहाँ बैठने नहीं दे।

(एक भाई) मूल थे 'श्रीमद्'की तरफ के; फिर हमारी ओर झुक गये थे। 'अहमदाबाद' के जज थे, अभी शायद 'मुम्बई' रहते हैं। यों तो एकदम गम्भीर और स्थिर व्यक्ति थे। मूल 'श्रीमद्' में

से इस ओर आये थे, 'गुरुदेव' की ओर झुके थे, परन्तु अब इस ओर कम कर दिया, परन्तु वह परिचय तो होता है न ! इसलिए वहाँ घाटकोपर के ज्ञानमन्दिर में मुझे आमन्त्रण दिया कि आप वाचन (प्रवचन) दो। फिर अन्दर ही अन्दर चर्चा हुई और ना कहलाई कि नहीं, 'कानजीस्वामी' वाले नहीं। इतना अधिक पूर्वग्रह, जिसे Highly Prejudice कहते हैं, परन्तु अब फिर फर्क पड़ा है। मुक्त रीति से चर्चा करते थे।

मुमुक्षु :- जिन जीवों का 'गुरुदेव' के प्रति अभिप्राय बदला, वे जीव तो दोष से कितने ही अंशों में छूट ही गये होते हैं।

पूज्य भाईश्री :- उन्हें एक ही न्याय देते हैं कि व्यक्तिगत उपदेश और समष्टिगत उपदेश का जब उदय भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है तो समष्टिगत उपदेश में समष्टिगत उपदेश एक-एक व्यक्ति को परख-परखकर देना - यह किस प्रकार सम्भव है ? वह परिस्थिति सम्भव है ? धर्मसभा में हजारों मनुष्य बैठे हो तो इसे यह वाक्य कहना और उसे यह वाक्य कहना यह सम्भव है ? सम्भव नहीं है, यह सम्भव नहीं है। कितनी ही पात्रता की बात की है। आत्मसिद्धि के प्रवचन पढो (तो पता चले)। इसके अतिरिक्त पात्रता की कितनी ही बात की है, इसलिए ऐसा नहीं है कि वह बात की ही नहीं है, परन्तु ऐसा है कि जहाँ समाज बड़ा हो जाता है, तब प्रतिक्षण प्रत्येक जगह जगत में भी लोहे के जितना सोना नहीं होता। जगत में लोहा टनों के माप में गलाया जाता है, सोना तोले में गलाना पड़ता है, वह टन में नहीं गलाया जाता और सोना जितना हीरा नहीं होता। सोना तोले में तोला जाता है, हीरा केरेटमें तोलना पड़ता है, वह तोले में नहीं तोला जाता, उसे तोले के कांटे पर नहीं रखा जाता; इसलिए प्रत्येक में प्रत्येक जगह पर अच्छी चीज कम हैं; फिर भले ही तुम्हारा समूह कितना ही हो या भले ही इस ओर का समूह चाहे जितना हो। दिगम्बर का समूह चाहे जितना हो, श्वेताम्बर का समूह चाहे जितना हो, 'कानजीस्वामी' का यदि

जितना हो, 'श्रीमद् राजचन्द्र' का चाहे जितना हो; जहाँ समूह बड़ा हो गया है, वहाँ अच्छी चीज तुम्हें एक टका, दो टका भी मिलना कठिन है; बाकी सब तो जो सामान्य चलता हो, तदनुसार चलता है; इसलिए इस प्रकार कोई माप निकालने का, सत्पुरुष का माप इस प्रकार नहीं निकलता। न्याय ऐसा बैठ जाता है। फिर वे लोग क्या है कि अपराध से डरते हैं। नहीं, सत्पुरुष का अवर्णवाद हो गया वे उसका पश्चात्ताप करते हैं। उनके वचनों में तो आत्मार्थीपने की Line है न ! इस प्रकार डरते हैं कि नहीं समझे तो कुछ नहीं, अपने को अवर्णवाद नहीं करना। कोई महापुरुष हो और हम नहीं पहिचान सकते हों तो अपने को उनके विरुद्ध नहीं बोलना, भूल से भी नहीं बोल जाना चाहिए। इस प्रकार डरते हैं। अपने यहाँ चाहे जैसे फैंक दे वैसे नहीं फैंकते। वह Tone वहाँ नहीं है, इस प्रकार का Tone नहीं है। 'श्रीमद्' में भूल थी, अमुक में ऐसा था-ऐसा इस प्रकार फैंकते नहीं है। डरते, डरते कहें।

मुमुक्षु :- यहाँ तो ऐसा डर भी नहीं रहा।

पूज्य भाईश्री :- हाँ डर नहीं रहा। स्वच्छन्द तीव्र हो (तो डर नहीं लगता है।)

'स्वरूपसीमा को उल्लंघन किये हुए पूर्व उदय, अखण्ड स्वरूप संस्थान में दौड़ लगाते हुए, सीमा स्पर्श के पूर्व ही भयभीत होकर निराश्रय, लड़खड़ाकर गिरने लगते हैं।' अपनी भाषा में निर्जरा की बात की है। भाषा थोड़ी कठिन पड़े-ऐसी है। यह कहते हैं कि जो उदय है, वह स्वरूपसीमा के उल्लंघन के बाद का विषय है, स्वरूपसीमा में उसकी सत्ता नहीं है; स्वरूप की परिणति में नहीं अर्थात् उसकी सीमा वहाँ पूरी हो गयी। स्वरूप, शुद्धस्वरूप और शुद्ध परिणाम वहाँ स्वरूप की सीमा पूर्ण हो गयी। फिर जो उदय है, वह उसकी सीमा के बाहर में है। उल्लंघन अर्थात् उसके बाहर का है।

'स्वरूपसीमा को उल्लंघन किये हुए पूर्व उदय...' पूर्व उदय की यह स्थिति है। वह मेरे स्वरूप और स्वरूप परिणति के बाहर की चीज है। मैं क्या करता हूँ? कि अखण्ड स्वरूप संस्थान

में दौड़ लगाता हूँ, दौड़कर जाता हूँ आत्मा में - ऐसा कहते हैं। देखो! वेग कितना है! पुरुषार्थ कितना है ! **'अखण्ड स्वरूप संस्थान में दौड़ लगाते हुए, सीमा स्पर्श के पूर्व ही भयभीत होकर...'** जहाँ अभी मैं सीमा को स्पर्श करता हूँ, उससे पहले ही वे कर्म और उदय तो बेचारे भयभीत होकर, निराश्रय होते हुए, लंगड़ाते, गिरते-पड़ते, (इस) लड़खड़ाने को गुजराती में पड़ता-आखड़ता- ऐसा कहते हैं। कोई भागे और भाग न सके और तब पड़ता-गिरता भागे, पड़ता जाए और भागता जाए, उसे गिरता-पड़ता कहते हैं। तुम्हारे लड़खड़ाता कहते हैं। **'गिरने लगते हैं।'** ये जो कर्म हैं, वे सब निर्जरित होने लगते हैं, भागने लगे हैं। अभी स्वरूपसीमा को स्पर्श करूँ वहाँ तो वे पहले भागने लगे।

'क्रमः क्रमः पूर्णता होने की, सुख-शान्ति के अनुभवपूर्वक निःशंकता वृद्धि पामती है।' क्रम-क्रम से पूर्णता होने तरफ की वृद्धि होती है, मेरी दशा पूर्ण होने तरफ की वृद्धि हो रही है। सुख-शान्ति के अनुभवपूर्वक वह वृद्धि हो रही है, निःशंक अनुभवपूर्वक वह वृद्धि हो रही है। ऐसे वाक्य आये हों तो 'गुरुदेव' तो समझे या नहीं समझे (कि) यह कहां से आया?

वे तो एक बार कहते थे कि (कर्म) ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं दिखते, परन्तु परोक्ष में तो ऐसा ख्याल आता है कि ढेर सारी निर्जरा होती है, कर्म झर रहे हैं, जर्जरित हो रहे हैं और भाग रहे हैं।

मूल में यहां तो मनुष्य को उचित सामान्य घर, सामान्य कुटुम्ब, सामान्य आर्थिक परिस्थिति, सामान्य प्रतिष्ठा-कीर्ति, ऐसे असाधारण ज्ञानी, तथापि मुमुक्षु समाज में भी इतनी प्रतिष्ठा-कीर्ति अथवा प्रसिद्धि नहीं। आयुष्यपूर्ण हुआ कि एक सैकेण्ड में वैमानिक देव में उत्पन्न हो जाए। कितना अधिक फर्क पड़ता है कुदरत के घर में; एक समय में एकदम वैमानिक देव में पहुँचे। धर्मात्मा सातिशय पुण्य लेकर गये होते हैं और वहाँ दूसरे जो अल्पपुण्यवाले देव होते हैं वे तो पहले से ही वहाँ सेवा में तैयार होते हैं। कुमार अवस्था में आलस

खाकर जहाँ पलंग में से खड़े होते हैं, दिव्यशरीर होता है, वहाँ उनकी स्तुतियाँ शुरु हो जाती है - अहो स्वामी! ऐसा महापुण्य करके आप कहां से यहाँ आये कि हम आपके अनुचर हैं। कितना पुण्य करके यहाँ पधारे आप कि हम आपकी सेवा में तैयार है! उनका स्वागत चले तो स्वागत पूरा होने में सैंकड़ों वर्ष निकल जाते हैं। करोड़ों वर्ष का, अरबों वर्ष का आयुष्य हैं। अभी दो-चार सागर की स्थिति में जाए, दो सागर से चार सागर की स्थिति में जाए, अधिकतम तैंतीस सागर है न ? उसमें अभी की जो स्थिति हैं, वह यह सनतकुमार, महेन्द्र की है। वह दो-चार सागर की है।

मुमुक्षु :- देवलोक में चारित्र तो नहीं होता।

पूज्य भाईश्री :- इसलिए वह जो है न सनतकुमार, महेन्द्र विमान में जाते हैं। वे ज्योतिष, व्यन्तर में नहीं जाते। वहाँ कम से कम दो सागर और अधिक से अधिक चार सागर; उत्कृष्ट में चार सागर और जघन्य में दो सागर का आयुष्य है, इसलिए अरबों वर्ष हुए। उसमें स्वागत में सैंकड़ों वर्ष बीत जाते है। स्वागत पूरा हो वहाँ यहाँ तो पच्चीस-पचास पीढ़ी बीत जाती है।

मुमुक्षु :- पहला नाटक छह हजार वर्ष का होता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यह होने योग्य है। स्वागत का नाटक होता है।

वे हीनपुण्य हैं और ये पुण्यशाली हैं, वे हीनपुण्य हैं; फिर क्या कहें ? ऐसा ही कहे न ! यहाँ क्या करते हैं ? जी... जी... जी... जी... साहेब... साहेब! डेढ प्रधान होवे तो क्या करते हैं ?

सम्यग्दर्शन का ख्याल न आवे, परन्तु पुण्य का तो ख्याल सीधा ही आता है, इसलिए दीनता तो उन्हें वहाँ भी आ जाती है। मिथ्यात्व अवस्था में वहाँ भी दीनता आती है; ऊँचे पुण्यवाले को देखकर दीनता आती है, ईर्ष्या आती है, वह सब प्रकार वहाँ है।

प्रश्न :- वहाँ भी योग्य जीव होते हैं ?

समाधान :- हाँ, उसमें क्या ? वहाँ भी सत्संग

होता है और असत्संग होता है और कुसंग होता है। वहाँ भी, इसलिए जो संग में जाते हैं वह सत्संग में जाता है तो उसमें दूसरे जीव भी पात्र हो सकते हैं, दूसरे जीवों को सम्यग्दर्शन भी होता है। वह इन्द्राणी तो वहाँ जाकर ही प्राप्त करती हैं न! शची इन्द्राणी है, वह वहाँ जाकर ही सम्यग्दर्शन लेती है। यहाँ से सम्यग्दर्शन लेकर स्त्रीवेद में नहीं जाते, वह वहाँ भी प्राप्त करती है।

प्रश्न :- मेरा कहना यह है कि जहाँ महापुरुष जन्म लेते हों, वहाँ ऐसे मुमुक्षु भी जन्मते हैं न ?

समाधान :- हाँ, रुचिवाला (हो) वह तो ऐसा ही है और शराब की दुकान पर शराबी ही मिलते हैं, वहाँ दूसरा व्यक्ति कहाँ से जाता था ? सीधीबात है या नहीं ? पीने की रुचि है, वहीं वहाँ जानेवाला है। उस दुकान पर कौन जाएगा ? इस प्रकार जिसे जिसकी रुचि है, वहाँ वैसे इकट्ठे होते हैं। जिसे उसमें न रुचे तो वहाँ नहीं जाता। जिसे जहाँ रुचता है, वहाँ जाता है, न रुचे वहाँ नहीं नहीं जाता। यह तो सीधी बात है। यह तो सीधे रुचि के साथ सम्बन्ध रखती है। इसलिए वहाँ भी अध्यात्म की रुचिवाले जो देव होते हैं, वे सत्संग करते हैं। मुमुक्षु न होवे तो मुमुक्षु होते हैं, मुमुक्षुता में आते हैं। मुमुक्षुता में आते हैं, ज्ञानदशा में आते हैं - सब होता है। जैसे यहाँ होता है, उसी प्रकार।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होता है ?

समाधान :- हाँ होता है, अवश्य होता है। चारों गतियों में होता है। यह है न, शची इन्द्राणी का दृष्टान्त दिया। पुरुष को हो इसमें क्या आश्चर्य है, स्त्री को होता है, तो फिर पुरुष को क्या बाधा है ?

प्रश्न :- देवलोक में ?

समाधान : हाँ, देवलोक में होता है।

प्रश्न :- चारित्र नहीं ले सकता ?

समाधान : नहीं; परन्तु ज्ञान होता है, सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न :- नया सम्यग्दर्शन होता है ?

समाधान :- हाँ, नया सम्यग्दर्शन चारों ही गतियों में होता है।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- मार्गकी शुरुआत ही कठिन है या सारा मार्ग ही ऐसा पुरुषार्थ अपेक्षित है?

समाधान :- श्रीमद्जीने कहा है कि – प्रथम भूमिका विकट होती है। अनादिसे एकत्वबुद्धि गाढ हो रही है; उसमेंसे पार होना उसे विकट लगता है। पीछे तो उसे मार्ग सहज और सुगम है। अपने सहज स्वभावको जिसने पहिचाना और स्वभाव प्रगट हुआ उसे फिर मार्ग सहज और सुगम है। प्रथम भूमिका जितनी कठिन होती है वैसी प्रत्येक भूमिका कठिन नहीं होती। पुरुषार्थकी धारा तो सबमें चालू ही रखनी पड़ती है, परन्तु प्रथम भूमिका विकट होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८९)



प्रश्न :- क्या सम्यग्दर्शनको टिकाये रखना विकट है?

समाधान :- सम्यग्दर्शन प्राप्त करना विकट है और टिकाये रखनेमें भी पुरुषार्थ चाहिये। प्राप्तिके पश्चात् उसे टिकाये रखनेकी अपेक्षा उसे प्राप्त करना अधिक विकट है। समकित पानेके बाद उसे टिकाये रखना सो विकट है; परन्तु जिसका पुरुषार्थ चलता हो उसे विकट नहीं है। जिसका पुरुषार्थ छूट जाता हो उसे टिकाना विकट है। जो अबाधित-अप्रतिहत धारासे चला हो, चारों ओरसे गतिमान् हो तो उसे टिकाना विकट नहीं है, परन्तु जो सब तरफसे गतिशील न हो उसके लिये विकट है। तथापि प्रथम भूमिका विशेष विकट है। अनंत जीवोंने भेदज्ञान प्रगट किया, चारित्रदशा प्रगट की और मोक्ष गये, क्योंकि अपना स्वभाव है। अपना स्वभाव होनेसे, विकट होनेपर भी, नहीं बन सके ऐसा नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ करे तो हो सके वैसा है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२९०)



प्रश्न :- क्या सम्यग्दर्शन होनेसे पहले स्वभावकी महिमा आती ही है?

समाधान :- स्वभावकी यथार्थ महिमा तो विकल्पोंके टूटनेपर आती है, परन्तु उससे पूर्व भी विचार करके निर्णय करे तो उसमें भी महिमा तो आती है। यथार्थ महिमा तो स्वरूपमें लीनता हो, स्वानुभूतिकी दशा प्रगटे तब आती है; तथापि स्वयं विचारकर निर्णय करता है तब भी महिमा आती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२९१)



प्रश्न :- क्या उसे प्रयत्न चालू रखना चाहिये?

समाधान :- प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिये। जो चारों ओरसे नहीं चला हो तथा किसी कारणवश चला हो उसे पुरुषार्थ मन्द पड़नेका कारण बनता है। जो हर तरफसे गतिमान् हो उसे पुरुषार्थकी धारा चलती है; तथापि उसे पुरुषार्थ तो अन्ततक अक्षुण्ण-अप्रतिहतधारासे करना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-२९२)



प्रश्न :- क्या आत्मप्राप्तिके लिये तीव्र पुरुषार्थ जरूरी है?

समाधान :- हाँ, तीव्र पुरुषार्थ जरूरी है। जिसे होता है उसे अन्तर्मुहूर्तमें होता है और न हो तो उसके लिये तीव्र पुरुषार्थकी जरूरत है। पुरुषार्थ करे तो होता ही है, न हो ऐसा नहीं है, परन्तु स्वयं नहीं करता है; अनन्त जीव पुरुषार्थ करके मोक्ष गये हैं। पर एवं विभावके साथ एकत्वबुद्धि दिन-रात बनी रहती है; उससे पृथक् होकर अमुक ढंगसे ज्ञायकका अभ्यास करता है परन्तु उसका अभ्यास अंतरसे सतत करे तो होता है। सतत अभ्यास कब होता है? कि अंतरसे लगन लगे तो होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२९३)



१८. जिस प्रकारके सम्यक्मार्गसे वीतरागदेव वीतराग निष्पन्नताको प्राप्त हुए ऐसा ज्ञान उस उपदेशका रहस्य है, ऐसा चिंतन करते हुए वह ज्ञान क्या है? ऐसी भावना करना।

१९. उस भावनाके दृढ़ होनेके बाद उन्होंने जो द्रव्यादि पदार्थ कहे हैं, उनकी भावना करके आत्माका स्वस्वरूपमें चिंतन करना, सर्वांग चिंतन करना।

ध्यानके अनेकानेक प्रकार हैं। उन सबमें श्रेष्ठ ध्यान तो वह कहा जाता है कि जिसमें आत्मा मुख्यरूपसे रहता है; और इस आत्मध्यानकी प्राप्ति प्रायः आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बिना नहीं होती। ऐसा जो आत्मज्ञान वह यथार्थ बोधकी प्राप्तिके सिवाय उत्पन्न नहीं होता। इस यथार्थ बोधकी प्राप्ति प्रायः क्रमसे बहुतसे जीवोंको होती है, और उसका मुख्य मार्ग, उस बोधस्वरूप ज्ञानीपुरुषका आश्रय या संग और उसके प्रति बहुमान, प्रेम है। ज्ञानीपुरुषका वैसा वैसा संग जीवको अनंतकालमें बहुत बार हो चुका है तथापि यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना, यही कर्तव्य है, ऐसा जीवको लगा नहीं है; और इसी कारण जीवका परिभ्रमण हुआ है ऐसा हमें तो दृढ़तासे लगता है।

ज्ञानीपुरुषकी पहचान न होनेमें मुख्यतः जीवके तीन महान दोष जानते हैं। एक तो 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' इस प्रकारका जो मान जीवको रहा करता है, वह मान। दूसरा, ज्ञानीपुरुषके प्रति रागकी अपेक्षा परिग्रहादिकमें विशेष राग। तीसरा, लोकभयके कारण, अपकीर्तिभयके कारण और अपमानभयके कारण ज्ञानीसे विमुख रहना, उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना। ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अनजान रखते हैं; ज्ञानीके विषयमें अपने समान कल्पना रहा करती है; अपनी कल्पनाके अनुसार ज्ञानीके विचारका, शास्त्रका तोलन किया जाता है; थोड़ा भी ग्रंथसंबंधी वाचनादि ज्ञान मिलनेसे अनेक प्रकारसे उसे प्रदर्शित करनेकी जीवको इच्छा रहा करती है। इत्यादि दोष उपर्युक्त तीन दोषोंमें समा जाते हैं, और इन तीनों दोषों का उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नामका महा दोष है; और उसका निमित्त कारण असत्संग है।

जिसे आपके प्रति, आपको किसी प्रकारसे परमार्थकी कुछ भी प्राप्ति हो, इस हेतुके सिवाय दूसरी स्पृहा नहीं है, ऐसा मैं यहाँ स्पष्ट बताना चाहता हूँ, और वह यह कि उपर्युक्त दोषोंमें अभी आपको प्रेम रहता है; 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' यह दोष बहुत बार वर्तन में रहता है, असारभूत परिग्रह आदिमें भी महत्ताकी इच्छा रहती है, इत्यादि जो दोष हैं वे ध्यान, ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमें आड़े आते हैं। इसलिये यथासम्भव आत्मवृत्ति करके उन्हें कम करनेका प्रयत्न करना, और लौकिक भावनाके प्रतिबंधसे उदास होना, यही कल्याणकारक है, ऐसा समझते हैं।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जुलाई-२०१२) का शुल्क डॉ. जयंतभाई वीरजी सावला, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

बंबई, आसोज, १९४८

जिस प्रकारसे यहाँ कहा गया था उस प्रकारसे भी सुगम ऐसा ध्यानका स्वरूप यहाँ लिखा है।

१. किसी निर्मल पदार्थमें दृष्टिको स्थापित करनेका अभ्यास करके प्रथम उसे अचपल स्थितिमें लाना।

२. ऐसी कुछ अचपलता प्राप्त होनेके पश्चात् दायें चक्षुमें सूर्य और बायें चक्षुमें चंद्र स्थित है, ऐसी भावना करना।

३. यह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ़ करना।

४. वैसी सुदृढ़ता होनेके बाद चंद्रको दक्षिण चक्षुमें और सूर्यको वाम चक्षुमें स्थापित करना।

५. वह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ़ करना। यह जो दर्शन कहा है वह भासमान दर्शन समझना।

६. यह दो प्रकारकी उलट सुलट भावना सिद्ध होनेपर भ्रुकुटिके मध्यभागमें उन दोनोंका चिंतन करना।

७. प्रथम वह चिंतन आँख खुली रखकर करना।

८. अनेक प्रकारसे उस चिंतनके दृढ़ होनेके बाद आँख बंद रखना। उस पदार्थके दर्शनकी भावना करना।

९. उस भावनासे दर्शन सुदृढ़ होनेके बाद हृदयमें एक अष्टदलकमलका चिंतन करके उन दोनों पदार्थोंको अनुक्रमसे स्थापित करना।

१०. हृदयमें ऐसा एक अष्टदलकमल माननेमें आया है, तथापि वह विमुखरूपसे रहा है, ऐसा माननेमें आया है, इसलिये उसका सन्मुखरूपसे चिंतन करना, अर्थात् सुलटा चिंतन करना।

११. उस अष्टदलकमलमें प्रथम चंद्रके तेजको स्थापित करना, फिर सूर्यके तेजको स्थापित करना, और फिर अखण्ड दिव्याकार अग्निकी ज्योतिको स्थापित करना।

१२. उस भावके दृढ़ होनेपर जिसका ज्ञान, दर्शन और आत्मचारित्र पूर्ण है ऐसे श्री वीतरागदेवकी प्रतिमाका महातेजोमय स्वरूपसे उसमें चिंतन करना।

१३. उस परम दिव्य प्रतिमाका न बाल, न युवा और न वृद्ध, इस प्रकार दिव्यस्वरूपसे चिंतन करना।

१४. संपूर्ण ज्ञान, दर्शन उत्पन्न होनेसे स्वरूपसमाधिमें श्री वीतरागदेव यहाँ हैं, ऐसी भावना करना।

१५. स्वरूपसमाधिमें स्थित वीतराग आत्माके स्वरूपमें तदाकार ही है, ऐसी भावना करना।

१६. उनके मूर्धस्थानसे उस समय अँकारकी ध्वनि हो रही है, ऐसी भावना करना।

१७. उन भावनाओंके दृढ़ होनेपर वह अँकार सर्व प्रकारके वक्तव्य ज्ञानका उपदेश करता है, ऐसी भावना करना।

